वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १४, रविवार
दि. ०६-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-११, १२, १३. प्रवचन नं. ४४

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला'। पाँचवी ढाल की ११वीं गाथा है। इसमें सम्यग्दृष्टि, निर्जरा की भावना भाता है। निर्जरा किसे कहना ? और उस निर्जरा की यथार्थ किसे होती है ? जिसे आत्मा... तप से निर्जरा कही है न ? तप कब कहलाता है ? कि पहले आत्मा की राग और शरीर से भिन्न है-ऐसा अपने स्वरूप का शुद्ध सम्यग्ज्ञान हुआ हो; वह उसमें स्थिरता का प्रयत्न करे, उसे तप कहा जाता है। वह वास्तविक तप है। समझ में आया ?

तपना-प्रतपन होना-शोभिता होना। यह आत्मा.. जिसने पहले निजपद की संभाल की है.. समझ में आया ? मेरा स्वरूप.. वीतराग शुद्ध स्वरूप हूँ, पुण्य-पाप के राग रहित मेरी चीज अत्यन्त निर्मल, आनन्द है-ऐसा जहाँ सम्यग्ज्ञान और दर्शन प्रथम हुआ, उसे ऐसी निर्जरा होती है, उसे तप होता है। यहाँ इन्होंने 'तप' शब्द का प्रयोग किया है न ? **'तप करि जो कर्म खिपावै...'** उसे स्वभाव में पुरुषार्थ की उग्रता द्वारा कर्म खिरते हैं। कहो, समझ में आया ? कहते हैं कि कर्म तो अनादि से खिरते हैं। किस प्रकार (खिरते हैं) ? कि-

भावार्थ :- 'अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों का खिर जाना तो प्रत्येक समय अज्ञानी को भी होता है।' पूर्व में जो कर्म बंधे हुए हैं, उनके उदयकाल में, उनके उदय का समय आये, उस समय पाक होकर-उदय होकर तो खिर जाते हैं। यह तो अनादि से एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, निगोद, अभव्य और भव्य सबको (होता है)। समझ में आया ? यह तो सविपाकनिर्जरा कही जाती है। सविपाक अर्थात् कर्म का उदय होकर खिरना। इसमें कहीं आत्मा को लाभ नहीं है। समझ में आया ?

'वह कहीं शुद्धि का कारण नहीं होता, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा...' चार बोल लिये। पहले 'तप' शब्द है सही न ? पहले तो आत्मा उसकी

दृष्टि में, रूचि में पूरा परमानन्द जिसे पोषाया होता है, पोषाता है। पोषाता है अर्थात् ? अब आज तो सादी काठियावाड़ी भाषा हो गयी, कल तो हिन्दी थी न ? आत्मा शुद्ध जिसे पुण्य-पाप का पोषाण नहीं है, जिसे शरीरादिक की क्रिया का भी स्वामीपना नहीं है। एक सहज स्वरूप चैतन्य पूर्ण आनन्द का कन्द आत्मा है, उसका जिसे अन्तर में स्वामीपना, दृष्टिपना प्रगट हुआ है... भाई ! उसे सम्यग्ज्ञानी कहा जाता है। आहा..हा... ! उस सम्यग्ज्ञानी को स्वभाव में उग्र पुरुषार्थ होता है, उसे निर्जरा कहा जाता है।

शुद्धि कि वृद्धि को निर्जरा कहते हैं अथवा शुद्धोपयोग को निर्जरा कहते हैं अथवा अशुद्धता के नाश को निर्जरा कहते हैं अथवा अशुद्धता का निमित्त मिटा, इसलिए कर्म का जितना मिटना होता है, उसे द्रव्यनिर्जरा कहा जाता है। समझ में आया ? निर्जरा के बहुत प्रकार किये। यहाँ भावनिर्जरा की बात है। जिसे विश्वास में पूरा भगवान आत्मा आया है। आहा.. ! समझ में आया ? जिसका भरोसा पुण्य और पाप के भावमें से और शरीर की क्रियामें से उड़ गया है। आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध आनन्दकन्द अनाकुल प्रभु है-ऐसा जिसे अन्तर में ज्ञान, भान होकर भरोसा-प्रतीति उत्पन्न हुई है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, और सम्यग्ज्ञान-वह आत्मा जिसने जाना कि यह आत्मा पवित्र शुद्ध है-ऐसा जो ज्ञान, और उसके साथ स्वरूप में स्थिरता का अंश जो रमणता, रमणता-लीनता (होती है), उसे चारित्र कहते हैं और उस सहित की शुद्धि की वृद्धि को तप कहते हैं। अद्भुत व्याख्या ! समझ में आया कुछ ?

यहाँ 'तप' शब्द है न ? '**निज काल विधि झरना, तासौं निज काज न सरना...**' समझ में आया ? यह शब्द तेरापंथी में भी आता है। (एक मुमुक्षु) बारम्बार कहता है। '**निज काज न सरना...**' उसका। उसके बदले कहता है कि मिथ्यादृष्टि की क्रिया अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक गया। दया, दान आदि (किये), फिर भी कुछ कार्य नहीं हुआ। फिर किसी समय ऐसा कहता है कि जितने दया, दान आदि के भाव, पर को निभाने आदि के; जो निर्दोष हो वह भगवान की आज्ञा में, ऐसा वह कहता है। दो का अनादि का विरोध है। उसके उसी वचन में विरोध है-ऐसा (एक मुमुक्षु) निकालता था। वहाँ गाँव में बहुत तेरापंथी है न ! यह '**निज कारज न सरना...**' वह शब्द उनमें पड़ा है।

अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया। दया, दान, शुभभाव, करुणा, कोमलता बहुत की, परन्तु

वह शुभभाव (थे)। उसमें कहीं निज काज नहीं हुआ। समझ में आया ? वह तो अकामनिर्जरा अथवा सविपाकनिर्रा-फल देकर खिरा, उसका नाम यह सविपाक या अकाम है। सकाम और सविपाक निर्जरा इसे नहीं हुई। समझ में आया ? अविपाक और सविपाक, यह कोई जैन में पड़े हुए को भी पता नहीं पड़ता। जो वीतराग की मूल ईकाई (है, उसका भी पता नहीं पड़ता)।

आत्मा अन्तर के आत्मा के भान बिना शुभभाव आदि के परिणाम से सहज पूर्वकर्म का उदय आकर खिर जाए अथवा शुभभाव में कोई पाप के रजकण खिरे, वह कोई सच्ची निर्जरा नहीं है। वह वस्तुस्थिति नहीं है, यह तो अनन्तबार ऐसा हो गया है, जिसे सविपाकनिर्जरा अथवा अकामनिर्जरा कहते हैं। यहाँ तो धर्मी को जो निर्जरा होती है, आत्मा के ज्ञानानन्द शुद्ध (स्वरूप) का भान होकर शुद्धि की वृद्धि बढ़े, अशुद्धता घटे, कर्म खिरे और भव घटे-ऐसी दशा को निर्जरा कहा जाता है। समझ में आया ?

कहते हैं कि '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा...**' प्रतपन-तपना। उग्र पुरुषार्थ से अन्तर आनन्द के घोलन में, अतीन्द्रिय आनन्द के घोलन में-जहाँ अकेला आनन्द तरवरे.. समझ में आया ? जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द की लज्जत का उग्र स्वाद आये, उसे भगवान शुद्धि की वृद्धि अथवा शुद्धोपयोग अथवा निर्जरा कहते हैं। कहो, भाई !

मुमुक्षु :- सम्यग्दृष्टि को निर्जरा होती है।

उत्तर :- उसे ही होती है। वह बात तो कही जाती है। यह कहाँ रहते हैं ? भान में कहते हैं। आज वापस सवेरे पुकार करते आये नहीं थे ? मेरे पाप का उदय होगा कि यह रोग आया ? लो ! यह लगाया सीधा ? माना है न कि मुझे आया; हुआ शरीर में और (मानता है कि) मुझे आया। ह कहना किसे ?

मुमुक्षु :- शरीर किसका ?

उत्तर :- शरीर जड़ का।

मुमुक्षु :- अभी ?

उत्तर :- अभी। अभी (नहीं) तो किसका है यह, आत्मा है यह ? यह तो मिट्टी है। समझ

में आया ?

मुमुक्षु :- यह भाई का नहीं ?

उत्तर :- इनका आत्मा है। इनका यह भाषा कही जाती है। शरीर भी कब इसका था ? और आत्मा का नाम कब था ? आहा..हा... !

मुमुक्षु :- यह मेरा है-ऐसा कहता हूँ, इसलिये दु:ख होता है।

उत्तर :- कहता हूँ, इसलिए नहीं, मानता है इसलिए। यह मान रहा है। वह एक काठी था न ? सुना था ? उस काठी को दायें पैर में फोड़ा हुआ, फोड़ा। काठी था। फोड़ा.. फोड़ा... फिर दूसरा भाई बारम्बार पट्टी बाँधे नाई.. नाई.. नाई होता है न ? नाई पट्टी बाँधे और छोड़े, फिर बाँधे, परन्तु ऊ.. ऊ.. करे ऊ.. ऊ.. करे, करते.. करते.. करते.. करते.. करते.. महीने-दो महीने में मिट गया। मिट गया और वापस ठीक हो गया तो भी थोड़ी पट्टी बाँध रखे, फिर तो जहाँ पट्टी खोले। वहाँ ऊं.. ऊं.. करे; मिट गया तो भी। फिर एक बार नाई ने पट्टी खोलकर (बायें) पैर मैं बाँधी, वह पट्टी जहाँ खोले, वहाँ ऊ.. ऊ.. करे, परन्तु क्या है ? कहाँ बाँधी है यह ?

मुमुक्षु :- ऊ.. ऊ... करने की आदत पड़ गयी है ?

उत्तर :- उसे आदत पड़ गयी है। भाई ! वह ऊ.. ऊ.. करने लगा। मिट गया, नाई को पता है कि यह मिट गया है, अब इसे कुछ है नहीं, फिर भी वह पट्टी बाँदे तब ऊ.. ऊ... करता है। फिर वह पट्टी खोलकर दूसरे पैर में-सही पैर में बाँधी, वहाँ जहाँ खोले तो ऊ.. ऊ.. (करे)। परन्तु किस पैर में है यह ? वह फोड़ा तो यहाँ रहा, (वह तो) मिट गया है; यहाँ क्यों शोर मचाता है तू ? हैं... ! किसने बाँधी ? परन्तु बाँधी चाहे जिसने, परन्तु दोष निकाले उसका, किसने बाँधा यह ? परन्तु बाँधा, तुझे अक्ल नहीं यह फोड़ा यहाँ है और तू शोर यहाँ से मचाता है। ऐसे शरीर में फोड़ा और शोर मचाये आत्मा-ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? मानता है न ! जड़ की दशा जड़ में वर्तती है, वह आत्मा को स्पर्शती भी नहीं और आत्मा में वर्तती भी नहीं।

मुमुक्षु :- मैं शरीर से भिन्न हूँ-ऐसा भासित ही नहीं हुआ।

उत्तर :- भासित नहीं हुआ, यह तो ठीक, परन्तु ऐसा है। न भासित हो तो भी शरीर की

अवस्था चैतनय में आयी ही नहीं। न माने तो भी शरीर की अवस्था आत्मा में आयी ही नहीं। आयी ही नहीं और माने के मुझे यह हुई है-यह तो मूढ की चीख-पुकार है। भाई ! आज सवेरे पुकारकरके आये वापिस, ऐ..ई..! मेरे पाप का उदय ? लो ठीक। इन सबके पुण्य का उदय है।

यहाँ कहते हैं, जिसने ऐसी शरीर की दशा को 'मेरी' मानी है, उसे तो मिथ्यादृष्टिपने में आत्मा का जरा भी लाभ नहीं है। शरीर तो नहीं, परन्तु पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वह भी विकार है, वह मैं नहीं। समझ में आया ? क्योंकि भगवान उसे आस्रव कहते हैं। जैसे शरीर अजीव है, कर्म अजीव है, वाणी अजीव है, ऐसे ही पुण्य और पाप के भाव आस्रव है; अत: आत्मा, आस्रव और अजीव नहीं है। आत्मा, आस्रव और अजीव नहीं है, तब है क्या ? वह आनन्द और चैतन्य की मूर्ति, वह आत्मा है। आ..हा...! समझ में आया ? ऐसा चैतन्य और आनन्द.. यहाँ तो ज्ञान और आनन्द-दो वस्तु अधिक लेनी है। समझ में आया ?

ज्ञान और आनन्द-यह आत्मा का स्वरूप है। ऐसा जहाँ अन्तर में अपनेपन का अन्तर भरोसा भाव (हुआ कि) भगवान आत्मा मैं हूँ.. ऐसा आया कि उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उसकी प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं, फिर उसमें स्थिरता हो, उसे चारित्र कहते हैं और फिर उग्र पुरुषार्थ द्वारा आनन्द की विशेष उज्जवलता बढ़े, उसे तप कहा जाता है। समझ में आया ? बहुत व्याख्या में अन्तर (है)। यह तो वर्षीतप करे, वहाँ (मानता है कि) उपवास हो गया।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, धूल में भी नहीं, वहाँ उपवास कहाँ था वहाँ ? आत्मा के अन्दर में शुद्धता प्रगटे, वह तपस्या है। वैसा लंघन तो अनन्तबार किया। वह तो कहा न ऊपर ? '**निज काज न सरना...**' अनन्तबार ऐसे... क्या बारह-बारह महीने के उपवास किये, नौंवे ग्रैवेयक गया तब। पहला है-देखो ! '**निज काल पाप विधि झरना, तासौं निज काज न सरना।**' है भाई ! ये सब भाई वहाँ सुनने में ये थे वहाँ... तुम सब एक साथ के थे या नहीं वहाँ ? कि, हाँ उपवास करे, उसे निर्जरा होती है। परन्तु उपवास किसका ? रोटियाँ नहीं आयी, उसमें आत्मा को उपवास कहाँ से हो गया ? ये रोटियाँ तो जड़ है और उसमें कदाचित् राग की मन्दता शुभ की हो तो वह पुण्य है। वहाँ धर्म कहाँ से आया ?

धर्म तो पुण्य और पाप के रागरहित, देह की क्रिया के लक्ष्य बिना अकेले चैतन्य के पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से दृष्टि-ज्ञान और स्थिरता हो, उसे धर्म कहा जाता है। समझ में आया ? लक्ष्य अर्थात् ध्येय से। आहा..हा... ! उसे कर्म की निर्जरा होती है अथवा अशुद्धता टलती है और शुद्धता बढ़ती है, उसे सच्ची निर्जरा कहा जाता है।

मुमुक्षु :- भगवान ने यह किया था।

उत्तर :- यह किया था, भगवान ने वह किया नहीं था।

मुमुक्षु :- मासखमण किया था..

उत्तर :- मासखमण की व्याख्या ही मिथ्या है। उन्होंने यह किया था। फिर इतने महीने तक आहार आने का योग नहीं था। लोगों ने यह देखा। अन्तर में यह देखा। अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द में अन्तर लवलीन होने से छह-छह महीने तक आहार लेने की इच्छा ही नहीं आयी, इसका नाम अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि, इसका नाम तप है। ऐसा तप भगवान ने किया था।

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- वे ऐसा मानते थे और जानते थे। अज्ञानी वे रोटियाँ नहीं खाते-ऐसा मानता है। समझ में आया ? दोनों के देखने की दृष्टि में फर्क है।

'**वह अविपाक...**' देखो ! भगवान आत्मा के अन्तर जहाँ शुद्धता भरी है, उसमें दृष्टि न पड़े तो शुद्धता की वृद्धि होगी कैसे ? समझ में आया ? पुण्य-पाप के भाव में शुद्धता पड़ी है ? आहार-पानी जाने-आने में शुद्धता पड़ी है ? शुद्धता तो अन्दर पड़ी है। भगवान चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प वीतराग स्वरूप से भरपूर है। उसमें दृष्टि पड़ने पर, उसका ज्ञान होने पर उसमें उग्रता के पुरुषार्थ द्वारा अशुद्धता टलती है और कर्म की निर्जरा शुद्धोपयोग से होती है-ऐसा कहा जाता है। आहा..हा... !

बहुत फेरफार हो गया है न। इस बारह महीने में एक वर्षीतप किया, जाओ ! हो गया (धर्म)। पाँच हजार-दस हजार (खर्च कर डाले)। गृहस्थ मनुष्य होवे ते एक वर्षीतप में (एक) लाख खर्च कर डाले। हो गया धर्म का उद्यापन। धूल में भी नहीं धर्म, सुन न अब। तेरे

लाख क्या करोड़ खर्च कर डाल ने.. राग मन्द होवे तो कदाचित् शुभभाव पुण्य बाँधे। समझ में आया ? धर्म-बरम नहीं, निर्जरा-निर्जरा नहीं।

यहाँ कहते हैं कि अपने आत्मा के प्रतपन द्वारा कर्मों का अथवा अशुद्धता का खिर जाना, वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा कही जाती है। समझ में आया ? **'इस प्रकार शुद्धि की वृद्धि होते होते सम्पूर्ण निर्जरा होती है..'** सब पूरा खिर जाता है, ऐसा। **'तब जीव शिवसुख (सुख की पूर्णतारूप मोक्ष) प्राप्त करता है।'** पाठ में है न ? **'सोई शिवसुख दरसावै...'** वह तो निर्जरा में भी आनन्द-सुख दर्शाता है। निर्जरा में भी आत्मा के अतीन्द्रिय आत्मा के आनन्द का दर्शन होता है और पूर्ण होने पर मोक्ष हो जाता है-ऐसा कहना है। निर्जरा में भी आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अवलोकन प्रत्यक्ष विशेष हो, तब उसे निर्जरा कहते हैं। आहा..हा...! शिवसुख दर्शावे अर्थात् वहाँ मोक्ष के सुख का अंश दिखता है। निर्जरा में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का वेदन (आता है)। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है, उसके स्वाद का वेदन (होता है), उसे भगवान निर्जरा कहते हैं। आहा..हा...!

मुमुक्षु :- यह तो आस्रव को निर्जरा कहता है।

उत्तर :- आस्रव को निर्जरा माने, (वह) मिथ्यात्व का पोषण करता है और मानता है कि हम धर्म करते हैं। वस्तु का पता कहाँ है ? समझ में आया ? (श्रोताओं से) इस ओर थोड़ी जगह है, थोड़ा ऐसा नजदीक आना, बाहर थोड़े बैठे हैं; लड़के बाहर हैं, वे अन्दर आ जाओ। क्या कहा ?

जब आत्मा में निर्जरा अर्थात् शुद्धि की वृद्धि होती है, तब आनन्द की वृद्धि का दर्शन अन्दर में विशेष होता है। आहा..हा...! अतीन्द्रिय आनन्द (विशेष आये), उसे भगवान तपस्या कहते हैं, बाकी सब को तो लंघन कहते हैं।

मुमुक्षु :- तो फिर वर्षीतप करने का हेतु क्या ?

उत्तर :- वह तो यह सब अज्ञान में, जगत में मान मिले और कुछ धर्म होगा-ऐसी मान्यता, मान्यता। वहाँ धर्म था कब ? दुनिया के लोग महिमा करे, घर में स्त्री हो, कुछ अन्य हो, विधवा हो, पैसा हो घर में.. हो पचास हजार खर्च करे। पति की उम्र बड़ी हो गयी है, स्वयं छोटी हो और उसमें उपवास करे तो फिर प्रसन्न करे, पाँच हजार खर्च करके, दस हजार खर्च करके-लहर करे।

समझ में आया ?

मुमुक्षु :– रूढ़ि अनुसार उपदेश..

उत्तर :– यह तो अनादि की रूढ़ि का उपदेश है, सत्य नहीं।

आत्मा के अन्तर सन्मुख के भान बिना जितना क्रियाकाण्ड का मन्दराग होता है, उसमें आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। पुण्य बाँधे, पुण्यभाव होवे, बाँधे, बन्धन प्राप्त करे। उसमें से स्वर्गादिक में (जाए)। यह तो अभी ऐसा पुण्य कहाँ करता है ? यह तो मान और सम्मान रूचे और मर जाए.. बहुत पुण्य होवे तो स्वर्ग में जाए, वहाँ से मरकर पशु होवे, पशु होकर नरक में जाए। उसमें दूसरा कुछ है नहीं। समझ में आया ? कठिन बात है, भाई !

अनन्तकाल.. यहाँ कहा न ? '**निजकाल पाप विधि झरना...**' यह तो '**निज काज न सरना...**' वह तो उसके उदयकाल में खिर गया। उसमें आत्मा को कोई लाभ है नहीं। '**तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै।**' लो। '**ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के अवलम्बन द्वारा...**' अन्तर में स्वद्रव्य का अवलम्बन लेकर, अन्तर्मुख होकर और '**शुद्धि की वृद्धि करता है वह निर्जरा भावना है।**' उसे शुद्धि बढ़ती है। निर्जरा की भावना करने से, शुद्ध स्वभाव की एकाग्रता करने से शुद्धता बढ़े, उसे निर्जरा कहते हैं। यह नौंवी (भावना) कही।

१०-लोक भावना

किनहू न करो न धरै को, षड़द्रव्यमय न हरै को;

सो लोकमांहि बिन समता, दु:ख सहै जीव नित भ्रमता ।।१२।।

अन्वयार्थ :- इस लोक को (किनहू) किसीने (न करौ) बनाया नहीं है, (को) किसीने (न धरै) टिका नहीं रखा है, (को) कोप (न हरे) नाश नहीं कर सकता; (और यह लोक) (षड़द्रव्यमयी) छह प्रकार के द्रव्यस्वरूप है-छह द्रव्यों से परिपूर्ण है (सो) ऐसे (लोकमांहि) लोक में (बिन समता) वीतरागी समता बिना (नित) सदैव (भ्रमता) भटकता हुआ (जीव) जीव (दुख सह) दु:ख सहन करता है।

भावार्थ :- ब्रह्मा आदि किसीने इस लो को बनाया नहीं है; विष्णु या शेषनाग आदि किसीने इसे टिका नहीं रखा है तथा महादेव आदि किसीसे यह नष्ट नहीं होता; किंतु यह छह द्रव्यमय लोक स्वयं से अनादि अनन्त है; छहों द्रव्य नित्य स्व-स्वरूप से स्थित रहकर निरन्तर अपनी नई-नई पर्यायों (अवस्थाओं) से उत्पाद-व्ययरूप परिणमन करते रहते हैं। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं है; यह छह द्रव्यस्वरूप लोक, वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह मुझसे त्रिकाल भिन्न है, मैं उससे भिन्न हूँ, मेरा शाश्वत चैतन्य-लोक ही मेरा स्वरूप है-ऐसा धर्मी जीव विचार करता है और स्वोन्मुखता द्वारा विषमता मिटाकर, साम्यभाव-वीतरागता बढाने का अभ्यास करता है, यह 'लोक भावना' है ।।१२।।

दसवीं लोक भावना। सम्यग्दृष्टि जगत के तत्त्वों का विचार करके लोकभावना भाता है।

किनहू न करो न धरै को, षड़द्रव्यमयी न हरै को;
सो लोकमांहि बिन समता, दुःख सहै जीव नित भ्रमता ।।१२।।

देखो ! यहाँ (इस) शब्द (पर) विशेष (वजन) है। बिन समता अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान को समता कहा जाता है।

यह लोक चौदह ब्रह्मान्ड है। चौदह ब्रह्माण्ड खड़े पुरुष के आकार सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान तीर्थंकर ने देखा है। लोक-ऐसे (कमर के ऊपर) हाथ रखकर मनुष्य खड़ा हो, उसका घेरा आवे ऐसा लोक की दिखावट है। चौदह राजू-ब्रह्माण्ड की। ऊर्ध्व में मोक्ष और स्वर्ग है, मध्य में मनुष्य और पशु है, अधो में नारकी है। ऐसा लोक **'किसी ने बनाया नहीं है।'** वह बनाया नहीं है। उसका कोई कर्ता नहीं है। वह अनादि वस्तु है। समझ में आया ? सर्वज्ञ के ज्ञान में (ऐसा

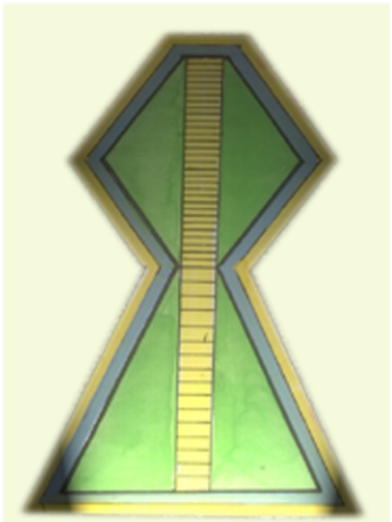

लोक भावना

आया है)। अनादि से अनन्त सर्वज्ञ होते आये हैं। उन विज्ञानियों ने छहद्रव्य ऐसे के ऐसे अनादि से लोक देखा है। ऐसा का ऐसा लोक है। किसी ने बनाया नहीं। उसका कोई कर्ता नहीं। कोई ब्रह्मा उसका कर्ता है (-ऐसा नहीं)। क्या होगा ? भाई ! (कोई) कर्ता नहीं।

'**किसी ने टिका नहीं रखा है...**' कहते हैं न, नाग और क्या शेषनाग टिकाता है, विष्णु टिकाता है-सब गप बात है, मिथ्या है। अनादि-अनन्त छह द्रव्यों का लोक ऐसा का ऐसा अनादि से भरा है। अनादि से छह द्रव्य हैं। अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणुओं अनादि से ऐसे हैं। उनका आकार चौदह ब्रह्माण्ड में पुरुष प्रमाण है, उसे किसीने किया नहीं है। ईश्वर-बिश्वर कोई कर्ता नहीं है, विष्णु उसे टिका रखनेवाला नहीं है। समझ में आया ?

'**कोई नाश नहीं कर सकता...**' कहते हैं न, महादेव नाश करता है। कोई नाश नहीं करता, ऐसा का ऐसा अनादि है। लो ! '**षट्द्रव्यमयी-छह द्रव्य स्वरूप है-छह द्रव्यों से भरा है।**' जगत के अन्दर छह द्रव्य है। आत्मा के ज्ञान की एक समय की पर्याय में छह द्रव्यों की श्रदधा करने की, जानने की ताकत है। समझ में आया ? यह आत्मा, उसके अनन्त गुण, उसका एक ज्ञानगुण, उसकी एक समय की एक पर्याय, उसमें छह द्रव्य है-ऐसा जानने की एक समय की पर्याय की पूर्णता है-ऐसा माना। पूरा द्रव्य तो अभी एक ओर रह गया। समझ में आया ? एक समय की पर्याय की ताकत इतनी है कि छह द्रव्य ऐसे के ऐसे हैं; छह द्रव्य अनादि-अनन्त किसी ने किये नहीं है, किसी ने टिकाये नहीं है, किसी से उनका अभाव व्यय नहीं होता है। (-ऐसा जाने) समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ऐसा होने पर भी...

उत्तर :- फिर भी भान नहीं होता। वह कहते हैं न, अभी कहते हैं। 'बिन समता'। सम्यग्ज्ञान बिना 'बिन समता' शब्द इसमें पड़ा है, देखो ! अर्थात् वीतरागी समता के बिना, वीतरागी अर्थात् अन्तर दृष्टि-चैतन्य में ज्ञाता-दृष्टा हूँ। ज्ञाता-दृष्टा के भान बिना इसने चौरासी के अवतार अनन्तबार किये हैं। समझ में आया ? ओ..हो..हो... !

'**षट् द्रव्यमयी लोक में वीतरागी समता बिना...**' इस समता का अर्थ ही यह है-वीतरागी दृष्टि। सम्पूर्ण आत्मा शुद्ध परमानन्द, वह षट्द्रव्य को और अपने को जानने-देखने के ही

स्वभाववाला है। किसी का-पर का करनेवाला नहीं और अपने राग का भी करनेवाला नहीं-ऐसा उसका स्वरूप है। दूसरे, आत्मा के अलावा जो छह है-अनन्त आत्मायें और सब, उनका भी कर्ता नहीं और आत्मा में होते राग का भी कर्ता नहीं-ऐसी कर्ता बिना की जो ज्ञाता की समता, ऐसे ज्ञाता-दृष्टा के भान बिना चौरासी लाख के अवतार में अनन्तबार कोई स्थान जन्म और मरण के बिना बाकी नहीं रहा। चोरासी के अवतार में एक-एक स्थान में अनन्तबार अवतरित हुआ। समझ में आया ? समझे ? भाई ! यह पहले ऐसा नहीं, ऐसा तो पूर्व मनुष्यपने में अनन्तबार हो गया है।

मुमुक्षु :- अज्ञानता में समझ में नहीं आता न ।

उत्तर :- समझना है या नहीं ? उस अज्ञानता को मिटाने के लिए यह कहा जाता है या रखने के लिए कहा जाता है ? समझ में आया ? आहा..हा... ! यह नरक की वेदन, यह नरक की वेदना... यहाँ पाप करके नरक में गया, उसकी वेदना, यह अनुभव उसको भगवान जानते हैं। उस वेदना में आत्मा का भान कर सकता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? उसमें अन्दर में पड़ा और वेदना इतनी, सब बाँधे हुए और मार.. मार.. सिर पर ... ओ..हो.. ! यही स्थिति होगी ऐसी की ऐसी, यह क्या ? उसमें अन्दर स्मृति आ जाती है। अहो.. ! हमें ज्ञानियों ने कहा था कि तुम तो आत्मा हो और शुद्ध चिदानन्द ज्ञाता हो। ऐसी अन्दर स्मृति आने पर (गुलांट मारता है)। अकेली पीड़ा वह अभी यदि मनुष्य देखे तो देख सके नहीं-इतनी पीड़ा। उसकी एक अग्नि की चिंगारी यहाँ इतना लाओ तो आसपास के अनेक योजन के मनुष्य उसे स्पर्शे बिना मर जाए-इतना आताप लगे। वहाँ यह असंख्य अरब वर्ष रहा। ऐसे अनन्तबार, एक बार नहीं, ऐसा अनन्तबार (हुआ)। इस आत्मा के सम्यग्दर्शन के भान बिना.. और ऐसे स्थल में भी अन्दर ऐसी गुलांट खाता है। ओ..हो... ! यह पीड़ा किसे ? कहाँ ? यह क्या है ? ऐस चैतन्य को अन्तर में देखने पर स्वरूप का भान (होकर) ऐसी पीड़ा के फल में आनन्द का भान हो जाता है। आतमा ऐसा उग्र पुरुषार्थ पीड़ा के स्थल में भी करता है। समझ में आया ? यहाँ कहाँ थी पीड़ा ? धूल में भी नहीं अब।

कहते हैं, आत्मा की दृष्टि के बिना.. मैं ज्ञायक चैतन्य, जगत का जानने-देखनेवाला हूँ; राग का भी करनेवाला नहीं, शुभराग का कर्ता भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि कर्ता माने, उसने विकारस्वरूप ही आत्मा को माना है। मैं ज्ञान हूँ, स्वसंवेदन से ज्ञात होऊँ ऐसा हूँ। '**स्वानुभूत्या चकासते**' मेरे

अन्तर की अनुभव की क्रिया से मेरी प्रसिद्धि होती है, राग और शरीर की क्रिया से नहीं–ऐसा स्व का भान नरक में भी करता है, स्वर्ग में भी करता है। समझ में आया ? परन्तु भान बिना इसने **'वीतरागी समता के बिना...'** भाषा कैसी रखी है इन्होंने ? वीतरागी दृष्टि, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी शान्ति अर्थात् आत्मदृष्टि, आत्मज्ञान और आत्मशान्ति के बिना **'हंमेशा भटकता हुआ जीव दु:ख सहन करता है।'** देखो ! यहाँ तो स्वर्ग में भी दु:ख सहन करता है–ऐसा कहा है। जीव हंमेशा दु:ख सहन करता है। इसका अर्थ क्या हुआ ? सेठपने में, राजा में और स्वर्ग में दु:ख ही है–ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- स्वर्ग में क्या दु:ख होगा ?

उत्तर :- दु:ख है, यह कहते हैं। उसे उस शरीर में ... है, वह दु:ख है। वह दु:ख किसने कहा ? अन्दर आकुलता की होली सुलगती है, वह दु:खी है। वह आकुलता, स्वर्ग में भी आकुलता करता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? दूसरी भाषा में कहें तो आत्मा की दृष्टि बिना सब पंच महाव्रत के परिणाम पालन किये, वह दु:ख को पालन किया था, दु:खी है–ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! भाई ! आहा.. ! देखो ! **'हंमेशा भटकता हुआ जीव, दु:ख सहन करता है।'** उसका अर्थ क्या हुआ ? समझ में आया ? अपने उसमें आया नहीं था ?

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो ॥५॥

यह ज्ञान, दूसरा आयेगा अब। समझ में आया ? दूसरा आयेगा। बोधिदुर्लभ में–सम्यग्ज्ञान बिना, वह सम्यग्ज्ञान बिना (कहेंगे) समझ में आया ? 'पै सम्यग्ज्ञान न लाद्यौ...' वह तो पहले आ गया। समझ में आया ? उसका अर्थ कि आत्मा अन्त:स्वरूप के सम्यग्दर्शन-ज्ञान के भान बिना जितना इसने किया और (उसके) फल में गया, वह सब इसे दु:खरूप का ही वेदन था। अव्रत के परिणाम में था तो भी दु:खी और आत्मा के भान बिना व्रत के शुभपरिणाम में था तो भी दु:खी था, क्योंकि शुभभाव, वह आकुलता और दु:ख है। इसने अनन्तकाल में दु:ख ही भोगा है। भाई ! आहा..हा... ! देखो न ! क्या कहा ?

'बिना समता दु:ख सहै जीव नित भ्रमता...' कि नित्य भ्रम में कोई नरक या पशु ही दो

रखे हैं ? मनुष्य, देव.. अनन्तबार त्यागी हुआ, मुनि हुआ-आत्मा के भान बिना। इस आत्मा के भान बिना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना जितने महीने-महीने के अपवास किये, महाव्रत के परिणाम किये-वे सब दु:खरूप परिणाम थे। है इसमें ? देखो ! भाई ! सेठी भी दु:खी है-यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आकुलता करते हैं, इसलिए (दु:खी है)। भाई ! अब यह (जीव) कल्पना करे कि मैं दु:खी हूँ और यह सुखी है।

मुमुक्षु :- कहाँ दु:ख है ?

उत्तर :- पैसेवाले-निरोगी सुखी। यहाँ तो कहते हैं कि महाव्रत के धरनेवाले भी दु:खी हैं, तुझे भान नहीं है, सुन न ! आत्मा के ज्ञान बिना अकेले महाव्रत के परिणाम, वह तो शुभराग है। यह राग है, वह दु:ख है, वह दु:खी है। तेरी दृष्टि और देखने में फर्क है। समझ में आया ? मेरे थोड़ा-सा दु:ख, उसे सुख, उसे अच्छा है, उसे अच्छा है। यहाँ तो कहते हैं कि निरोग शरीर, इतना निरोग कि जिसमें रोग पूर्व में आया नहीं, अभी है नहीं और आने की तैयारी नहीं-इतना निरोगी शरीर... और जिसके पंच महाव्रत के शुभपरिणाम-अहिंसा, सत्य, दत्त, (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भाव (पालन करता है), परन्तु मिथ्यादृष्टि है-आत्मा का भान नहीं है, इसलिए वह दु:खी है-ऐसा तू देख-यहाँ तो यह कहते हैं। ठीक ?

'**जीव दु:ख सहन करता है।**' देखो न ! यह तो गागर में सागर भर दिया है। 'छहाढाला' हिन्दी है, सारी हिन्दी। दिगम्बर में तो बहुत-सों को कंठस्थ होती है, परन्तु अर्थ नहीं समझते। '**लोकमांहि बिन समता...**' एक भगवान आत्मा, जो आनन्दस्वरूप है, उसकी दृष्टि समता, सम्यग्दर्शन अर्थात् वह समता-सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञान वह समता-स्वभाव है। चारित्र भी वह समभाव है। ऐसे आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति बिना इसने अनन्त (भवों में) जितना किया, जिसके फल में स्वर्ग आदि में गया, बड़ा सेठ हुआ-वह सब दु:खी ही थे, दु:ख ही भोगे हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- स्थायी दु:ख नहीं।

उत्तर :- कायम है-ऐसा यहाँ कहते हैं। इसे भान कहाँ है ? सदा विकार की वृत्तियाँ खड़ी होती है, यही इसे दु:ख है। कायम-चौबीस घण्टे निरन्तर.. आहा..हा... ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा निर्विकारी सच्चिदानन्द प्रभु का आश्रय लिये बिना अनादिकाल से जितना परद्रव्य के आश्रय से शुभाशुभभाव करता है, वह सब अकेला निरन्तर चौबीस घण्टे इसे दुःख ही है।

मुमुक्षु :- आश्वासन देनेवाला होगा न कोई ?

उत्तर :- अब आश्वासन देनेवाला भी मूढ है। उसे भान कब है ? दोनों समान-समान है।

मुमुक्षु :- तो सुखी को ढूँढना पड़ेगा न।

उत्तर :- सुखी सम्यग्दृष्टि। 'एक सुखिया जगत में सन्त, दुरीजन दुखिया रे...' सुखिया जगत में सन्त-सम्यग्दृष्टि सुखी है। समझ में आया ? जिसे आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान का अन्तर भान होकर आनन्द का आंशिक आनन्द वेदन आया, वह एक सुखी (है)। बाकी सब दुःखी है। हजारों रानियाँ छोड़कर साधु हुआ हो, परन्तु सम्यग्ज्ञान-भान बिना वह दुःखी, दुःखी और दुःखी है। आहा..हा...! समझ में आया ? नज़र की फर्क की बात है, भाई ! यह तो चौबीस घण्टे अखण्ड धारा से.. आत्मा के आनन्द की जो धारा है, उसका जहाँ भान नहीं, वह अखण्डधारा से पुण्य-पाप के विकार से आकुलता और दुःख को ही भोगता है, उसे एक समय भी शान्ति है ही नहीं। ठीक है ? आहा..हा...! क्या कहा इसमें ? इसमें समझ में आया या नहीं ?

मुमुक्षु :- ध्यान में बैठे तो शान्ति होती है न ?

उत्तर :- ध्यान किसे कहना ? अन्दर राग में राग का विकल्प करता हो तो अकेला वह ध्यान दुःखरूप है, आर्तध्यान है, वह दुःखी है। आहा..हा...! कहो भाई ! चौबीस घण्टे ? निश्चिन्त ऐसा सोता है न ! श्रीखण्ड, पुरी खाये और अरबी के भुजिये (खाता हो), कहते हैं कि वहाँ सुखी या दुःखी ? वह दुःखी है। अकेला दुःखी, पूर्ण दुःखी है। भाई ! कैसे होगा ? पैसेवाले को पीछे करता होगा ? यहाँ तो महाव्रतवाले को पीछे नहीं करते, फिर दूसरे कहाँ रहे ? आहा..हा...! व्रत और अव्रत के दोनों परिणाम विकार है। भगवान आत्मा निर्विकारी स्वरूप है। उसकी अन्तरदृष्टि बिना निरन्तर शुभ और अशुभभाव का करनेवाला, वह दुःखी..दुःखी.. एकान्त दुःखी है। समझ में आया ? यह नज़र कठिन।

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- ये सुख-दु:ख टिकते नहीं, संयोग टिकते नहीं-ऐसा कहते हैं यह; परन्तु अन्दर कल्पना की धारा तो कायम चलती है। उसका भान कब था इसे ? समझ में आया ? 'कर्म ने.. घड़ीया आता है न ? दमयन्ती में आता है। आता है न, सब सुना है, पढा था, बहुत अधिक था न ? 'सुख-दु:ख मन में न आणिये, घट साथे रे घड़िया'-यह तो बाहर के संयोग की बात करते हैं; परन्तु जिसे आत्मा का पता नहीं, आत्मा आनन्दमूर्ति है, अकेला आनन्द का सागर है-ऐसी जहाँ अन्तरदृष्टि नहीं, वे सब जीव-एक साहूकार, गरीब, रंक, नारकी, चींटी, कौआ, कंथवा, हाथी और स्वर्ग का देव और मनुष्य, आत्मज्ञान रहित पंच महाव्रत धरनेवाला द्रव्यलिंगी साधु-एक ही धारा से दु:खी.. दु:खी.. और दु:खी है। आहा..! समझ में आया ? यह सब तो दु:खी (सिद्ध किये)। ये अकेला दु:खी नहीं, बहुतों को दु:खी सिद्ध किया। आहा..हा...!

यहाँ तो देखो न, क्या कहा ? **'सो लोक मांहि बिन समता, दु:ख सहे जीव नित भ्रमता.. नित भ्रमता'** इसे किसी भी अवतार में जरा भी सुख का अंश नहीं है, क्योंकि इसने सुखस्वरूप भगवान आत्मा की नज़र नहीं की है। नज़र किये बिनावाले बंध गये मिथ्यात्वभाव में, उसके शुभ और अशुभभाव में भी दु:खी है। कहो, ठीक है ? यह भगवान ऐसा कहते हैं। परमेश्वर तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव, जिन्हें एक समय में तीन काल का ज्ञान था, वे परमेश्वर, सौ इन्द्रों की उपस्थिति में दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा फरमाते थे।

भाई ! भगवान आनन्द का सागर है न प्रभु ! तेरी शान्ति समाप्त न हो ऐसी शान्ति है। ऐसे शान्तिस्वरूप भगवान की सन्मुखता के पक्ष में चढ़े बिना जितने पर पहलू से खड़े हैं, वे शुभभाव करते हों, अशुभभाव करते हों, त्यागी दिखते हों, भोगी दिखते हों-वे सब दु:खी.. दु:खी.. चौबीसों घण्टे दु:खी हैं। भाई ! कैसा होगा यह ? परन्तु कैसे किस प्रकार मापना ? मापना कहा न ? कि सुखस्वरूप अर्थात् निर्विकारी भगवान आत्मा।

सुखस्वरूप अर्थात् भगवान आत्मा। वह नरक में स्थित सम्यग्दृष्टि जीव भी सुख भोगता है। समझ में आया ? वह सम्यग्दृष्टि नरक में स्थित (तो भी) आत्मा का सुख भोगता है और मनुष्यपने में हजारों लोग ऐसे वन में आदर करते हो, त्यागी दिखे, पंच महाव्रत धारी दिखे...

समझ में आया ? परन्तु जिसकी दृष्टि राग और विकल्प पर पड़ी है और चैतन्य पर नहीं है, वह दु:खी.. वर्तमान दु:खी है, (सम्यग्दृष्टि) नारकी वर्तमान सुखी है। आहा..हा..! भाई ! माप किस प्रकार करना ? भाई ! स्व के पक्ष में नहीं चढ़े, व सब जीव पर के पड़खे खड़े हैं। असंख्य अशुभभाव और असंख्य शुभभाव, उन किसी भी भाव में खड़े हैं, वे सब दु:ख का ही वेदन करते हैं। निरन्तर चौबीस घण्टे नहीं परन्तु अनादि जबतक सम्यक् प्राप्त न करे.. समझ में आया ? आत्मा की दृष्टि न करे, तब तक निरन्तर निगोद से लेकर नौंवे ग्रैवेयक (तक) मिथ्यादृष्टि गया, निरन्तर दु:खी है। कहो, भाई ! यह अद्भुत बात कहते हैं।

राम.. राम.. राम.. राम.. राम.. राम.. राम.. ॐ. ॐ.. ॐ.. ॐ... ॐ... ॐ.. महावीर ॐ.. महावीर ॐ.. महावीर ॐ.. महावीर ॐ... कहते हैं कि यह महावीर.. महावीर करे, वह राग है, वह दु:खी है। राग रहित चीज आत्मा की दृष्टि किये बिना वह दु:खी है। कहो, भाई ! अद्भुत व्याख्या, भाई ! यह कहते हैं, रविवार को होली नहीं सुलगाई जाती। हुतासनी है न ? क्या कहलाता है ? हुतासनी न ? आज कितने ही हुतासनी नहीं जलाते। रविवार है सही न, वहम पडता है। रविवार को होली नहीं जलाते। यह तो अनादि से सुलगता है, कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु जिसकी अन्तर खान में अनाकुल आनन्द का महासागर भरा है। ऐसे आत्मा की अन्तरसन्मुख की दृष्टि किये बिना, जितने प्राणी भोगी, त्यागी, रोगी, निरोगी, स्वर्गीय, नरकीय, सेठाई और भिखारी–सब चौबीसों घण्टे दु:खी.. दु:खी.. और दु:खी हैं। ठीक है ?

बात में यह बात है, पूरे लोक का वर्णन है न ? भाई ! इस लोक के अन्दर छह द्रव्य भरे हैं। तेरे स्वरूप के भान बिना तुझे किसी स्थान में, किसी काल में, स्वरूप के भान बिना के भाव में कहीं सुख नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा...! कहो ! बात तो जँचे ऐसी है या नहीं यह ?
'भटकता हुआ जीव दु:ख सहन करता है।'

भावार्थ :- 'ब्रह्मा आदि किसीने इस लोक को बनाया नहीं है; विष्णु या शेषनाग आदि किसी ने इसे टिका नहीं रखा है तथा महादेव आदि किसी से यह नष्ट नहीं होता, किन्तु यह

छहद्रव्यमय लोक स्वयं से ही अनादि अनन्त है। छहों द्रव्य नित्य स्व-स्वरूप में स्थित रहकर निरन्तर अपनी नयी-नयी पर्यायों (अवस्थाओं) से उत्पाद-व्ययरूप परिणमन करते हैं।' देखो ! प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अनन्त गुण की अवस्था से प्रति समय उत्पन्न होता है। उसे दूसरा द्रव्य उत्पन्न नहीं कर सकता। दूसरा कर्ता नहीं है; ऐसे ही दूसरा द्रव्य भी इसकी पर्याय को उत्पन्न नहीं करता।

जितने द्रव्य अनन्त हैं, उनकी प्रति समय की अवस्था वह द्रव्य स्वयं उत्पन्न करता है। उस उत्पन्न करनेवाले द्रव्य को कोई कर्ता नहीं है। समझ में आया ? इस द्रव्य को दूसरा द्रव्य कर्ता नहीं और इस द्रव्य की पर्याय में दूसरा कर्ता नहीं। ईश्वर कर्ता नहीं–ऐसा मानना और फिर कहे कि यह दूसरा द्रव्य इसका कर्ता है, यह तो वही का वही हुआ। आहा..हा... ! अरे.. ! भगवान ! क्या हो ? नयी–नयी पर्यायें प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक रजकण में, प्रत्येक आत्मा में, अनन्त में... अनन्त परमाणु में प्रत्येक में जितने अनन्त गुण हैं, उतनी ही एक समय में नयी अवस्था की उत्पत्ति का स्वकाल उसे होता ही है। वह स्वयं के कारण उत्पन्न होती है और स्वयं के कारण पूर्व की अवस्था से व्यय होता है और ध्रुवपना कायम रखती है।

'एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं है।' जैसे छह द्रव्यों में–लोक में ईश्वर का अधिकार नहीं है कि ईश्वर करे; वैसे एक वस्तु में, उसकी पर्याय में दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं है। आहा..हा... ! दूसरे का भला–बूरा कर सके–ऐसा दूसरे द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे अधिकार नहीं है।

मुमुक्षु :– ...

उत्तर :– यह तो अपनी भावना की श्रद्धा में देखता है। यह बात हो गयी है। यह संसारी–जीव के लिये है, हाँ ! भगवान के लिये नहीं। यह तो भक्ति है या नहीं ? भव के भय का वेदन करनेवाले... भगवान आत्मा के इस भव का भेदन करनेवाले... भगवान आत्मा के इस भव का भेदन करनेवाले.. हाँ ! भगवान नहीं, भगवान तो.. रात्रि में बात हुई थी न ? वहाँ तो मानते है और श्रद्धा है वहाँ ! श्रद्धा का विषय है, भगवान की श्रद्धा का विषय है। व्यवहार सम्यक्त्व। वे भगवान कैसे ? भव के भय का (भेदन करनेवाले हैं)। वे उत्पाद करनेवाले द्रव्य का कोई कर्ता नहीं है। समझ में आया ?

'**यह छहद्रव्यस्वरूप लोक, वह मेरा स्वरूप नहीं है। वह मुझसे त्रिकाल भिन्न है....**' मेरे आत्मा से अनन्त आत्मायें, ये देव-गुरु-शास्त्र भी इससे भिन्न है-ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! आहा..! स्त्री, पुत्र का आत्मा और उनके शरीर तो त्रिकाल अत्यन्त भिन्न है। कोई किसी की दशा को कोई कर नहीं सकता। '**मैं उनसे भिन्न हूँ। मेरा शाश्वत चैतन्यलोक ही मेरा स्वरूप है।**' चैतन्यस्ववरूप जो ध्रुव नित्य अनादि-अनन्त चैतन्यस्वभाव भगवान आत्मा, वह आत्मा का लोक है। वह अनादि है। उस लोक को किसी ने बनाया नहीं है और उसका कभी नाश नहीं होता। भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु !'**ऐसा धर्मी जीव विचार करता है।**' लो ! समझ में आया ?

'**और स्वसन्मुखता द्वारा...**' परसन्मुखपने तो अनन्तबार किया, परन्तु वास्तविक निर्जरा भावना कब कहलाती है ? उनसे भिन्न हूँ-जगत के छह द्रव्य-अनन्त हैं, उनसे भिन्न हूँ और पृथक् की पृथक्ता की भावना में ऐसी भावना करे तो '**विषमता मिटाकर...**' समता कही थी न ? '**साम्यभाव-वीतरागता बढ़ाने का अभ्यास करता है, (वह लोक भावना है)।**' ऐसा। कहा था न ? 'बिन समता।'-बिन समता बिना किया और आत्मा स्थिर हो तो समता बढ़े। स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान बिना छहद्रव्य (स्वरूप) लोक में भटका है। उस स्वरूप की श्रद्धा की समता, ज्ञाता-दृष्टा, दूसरा कुछ करना नहीं, दूसरे का कर सकता नहीं। ऐसा अपना पुरुषार्थ ज्ञाता-दृष्टा है-ऐसा भान करके और समता प्रगट करे, उसे यह लोकभावना सच्ची फलित होती है। समझ में आया ?

लोक में मेरा कोई नहीं है। मेरा, मेरे पास है। शरीर में मेरा नहीं है, कर्म में मेरा नहीं है, शुभाशुभभाव में भी मेरा नहीं है, तो स्त्री-पुत्र तो कहीं दूर रह गये, वे तो क्षेत्र से (भी) प्रत्यक्ष दूर हैं, प्रगट दूर है। इस पानी और दूध की तरह एकमेक दिखायी दे, (जब) वे पृथक् हैं, तो जो क्षेत्र से पृथक् हैं, वे तो अत्यन्त पृथक् हैं। कहो, समझ में आया ?

मेरा चैतन्यस्वरूप लोक, वह मैं हूँ-ऐसा मानकरके, परद्रव्यों से भिन्न हूँ और अपने स्वभाव के सन्मुख होकर भावना करे और शुद्धि की वृद्धि होती है.. समझ में आया ? वीतरागता-वीतरागता अर्थात् सम्यग्दर्शन तो है, सम्यग्ज्ञान है। यह आत्मा (भाता है कि) कोई मेरा नहीं है, मैं उनका (नहीं हूँ)। इसी प्रकार एकाग्रता होने पर उसे शान्ति की वृद्धि होती है, अशान्ति मिटती जाती है। ज्ञानी को अभी थोड़ी अस्थिरता है न ? यह शान्ति की वृद्धि होती है, वैसे अशान्ति मिटती है। लो ! उसे लोकभावना कहा जाता है।

११-बोधिदुर्लभ भावना

अंतिम-ग्रीवकलौकी हद, पायो अनन्त विरियां पद;
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निजमें मुनि साधौ ।।१३।।

अन्वयार्थ :- (अंतिम) अंतिम-नववें (ग्रीवकलौंकी हद) ग्रैवेयक तकके (पद) पद (अनन्त विरियां) अनन्तबार (पायो) प्राप्त किये, तथापि (सम्यग्ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (न लाधों) प्राप्त न हुआ; (दुर्लभ) ऐसे दुर्लभ सम्यग्ज्ञान का (मुनि) मुनिराजोंने (निजमें) अपने आत्मा में (साधौ) धारण किया है।

भावार्थ :- मिथ्यादृष्टि जीव मंद कषाय के कारण अनेकबार ग्रैवेयक तक उत्पन्न होकर अहमिन्द्रपद को प्राप्त हुआ है, परन्तु उसने एकबार भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया, क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना वह अपूर्व है; उसे तो स्वोन्मुखता के अनन्त पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और ऐसा होने पर विपिरीत अभिप्राय आदि दोषों का अभाव होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान, आत्मा के आश्रय से ही होते हैं। पुण्य से, शुभराग से, जड़ कर्मादि से नहीं होते। इस जीव ने बाह्य संयोग, चारों गति के लौकिक पद अनन्तबार प्राप्त किये हैं किन्तु निज आत्मा का यथार्थ स्वरूप स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष करके उसे कभी नहीं समझा, इसलिये उसकी प्राप्ति अपूर्व है।

बोधि अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता; उस बोधि की प्राप्ति प्रत्येक जीव को करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव स्वसन्मुखतापूर्वक ऐसा चिंतवन करता है और अपनी बोधि और शुद्धि की वृद्धि का बारम्बार अभ्यास करता है, यह 'बोधिदुर्लभ भावना' है । १३।।

अब, ग्यारहवी बोधिदुर्लभ भावना।

अंतिम-ग्रीवकलौकी हद, पायो अनन्त विरियां पद;
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निजमें मुनि साधौ।।१३।।

भाषा देखो ! मुनि क्यों लिये हैं ? वे तीन बोल साथ हैं न ? भाई ! बोधि है न बोधि ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन को बोधि कहना है न,

इसलिए मुनि लिये हैं। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो गृहस्थाश्रम में भी होता है, परन्तु यहाँ बोधि में सम्यग्दर्शन, आत्मा का भान, ज्ञान और साथ में स्थिरता-चारित्र तीनों एकता को बोधि कहा जाता है। 'बोहिलांभ' नहीं आता ? 'समाहिवरमुत्तम दिंतु बोहिलाभं' आता है। उसका अर्थ नहीं आता होगा। 'बोहिलाभं' लोगस्स में शब्द आया है या नहीं ?

'आसग्गबोहिलाभं' आरोग्य अर्थात् शरीर की निरोगता, यह मांगे। धूल में उसकी बात नहीं है। आरोग्य अर्थात् रागरहित मेरी निरोग अवस्था की मुझे प्राप्ति होओ। आत्मा आरोग्य-पुण्य-पाप का रोग है, उससे रहित मेरी दशा मुझे प्राप्त होओ-इसका नाम आरोग्य। धूल (शरीर) की आरोग्यता क्या है ? यह तो कहा, शरीर का रोगी भी राग से दुःखी है, शरीर से निरोगी भी राग से दुःखी है। वह तो दुःखी है। 'आसग्ग बोहिलाभं' मुझे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का लाभ होओ; दूसरा लाभ सम्यग्दृष्टि नहीं मांगता। धर्मी तो बोधि का लाभ चाहता है। यह बोधि धर्म की भावना की व्याख्या हुई। (विशेष कहेंगे)....

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❋

जो निर्मल भावका पिण्ड है ऐसे चैतन्यकी जिसे महिमा है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उसे दया-दान आदिके रागकी व उनके फलकी महिमा नहीं होती । जिन्हें दया-दान आदिके रागकी व उसके अनुकूल फलकी महिमा है, उन्हें सुख समूह-आनन्दकन्दरुप आत्माकी महिमा नहीं आती । जिनको व्यवहार रत्नत्रयके शुभ-रागकी, देवःशास्त्र-गुरुकी अन्तरमें महिमा वर्तती है; उनको "निमित्तका जिसमें अभाव है - रागका जिसमें अभाव है -" ऐसे स्वभाव-भावकी महीमा नहीं है; जिससे उन्हें पर्यायमें अनन्द नहीं आता। जिनको शुभ-भावसे लेकर बाहरमें कुछ भी अधकता, आश्चर्य और महिमा (लगती) है - उनको सम्यग्दर्शन नहीं होता ।

(परमागमसार-४२५)